



10. बुंदेली गीतों में यौन भावों की अभिव्यक्ति

प्रो. भारती शुक्ला

प्राध्यापक

हवा बाग महाविद्यालय, जबलपुर

9407851719

bhartivts@gmail.com

शोध सार

लोक संस्कृति में अश्लीलता के अर्थ जड़ एवं अकाट्य नहीं है बल्कि अश्लीलता एक सापेक्षिक शब्द है जो संदर्भ, पात्र, अवसरानुसार अपने अर्थ ग्रहण करता है। अश्लीलता का यह अर्थ विस्तार पूरे लोक में अत्रभुक्त है। सन्दर्भ, स्थान और समय के अनुसार इसका प्रयोग तथा इसकी चर्चा उसके अर्थ सन्दर्भों को सार्थक तथा अर्थवत्ता पूर्ण बना देती है वहीं अनापेक्षित प्रयोग एवं पुनरावृत्तियाँ हल्का और निरर्थक बना देती हैं। इसीलिये श्लील-अश्लील का प्रश्न लोक में उठता ही नहीं है तथाकथित शहरी सभ्य समाज के अश्लीलता के मानदंड तथा लोक के अश्लीलता के मानदंड एकदम अलग हैं, लोक इसे सहजता से जीवन का अभिन्न प्रवाह मान स्वीकरता है।

मुख्य शब्द- शील-अश्लील, स्त्री यौनिकता, अभिधा, व्यंजना, लोकसंस्कृति, इतिहास, रिश्तों के व्यंजनार्थ, आदिवासी समुदाय, सामंती समाज, विविध गीत, पितृसत्ता इत्यादि

प्रस्तावना

सभ्य माने जाने वाले समाज की तुलना में लोक समाज अधिक उन्मुक्त हैं, किन्तु आदिम समाज लोक समाज से भी अधिक उन्मुक्त एवं कुंठामुक्त है यानि लोक, आदिम समाज के कुछ निकट अवश्य है किन्तु 'यौनिकता' के प्रति उसकी दृष्टि पूरी तरह पितृसत्ताक दबावों से मुक्त नहीं है। आदिम संस्कृति में यौन संबंध तथा यौनचर्चा गोपनीय नहीं है बल्कि वह जीवन की सहजानुभूति से जुड़ा अभिन्न हिस्सा है यही कारण है कि इन समुदायों में स्त्री उत्पीड़न या स्त्री विषमता जैसे प्रश्न उठते ही नहीं है। "आज हिन्दू स्त्रियों को पुरुषों के समान अधिकार प्राप्त करने के लिये नारीवादी आंदोलन करने पड़ रहे हैं यह जानकर चेंचू स्त्रियां नाक भौं सिकोड़ने लगेगी। अविवाहित मुंडिया गौण स्त्री-पुरुषों का घोटुल नामक डामर्मिटरी में एक साथ रहना तथा अबाध यौन स्वाधीनता का भोग करना हमारी दृष्टि से असामाजिक प्रतीत हो सकता है लेकिन हम किस तरह अस्वीकार कर सकेंगे कि हमारे शुचिता ग्रस्त मूल्य बोध, एक विराट संख्यक स्त्री-पुरुषों को यौन दमन के लिये बाध्य कर उन्हें यौन विकृति का शिकार बना देते हैं, घोटुल जीवन की अभ्यस्त मुंडिया स्त्री अपने विवाह का निर्णय स्वयं करती है यह निर्णय उस पर थोपा नहीं जा सकता। उसकी संस्कृति, उसका समाज एक भी स्त्री का उसके शैशवकाल में विवाह नहीं करते उसे पतितावृत्ति करने के लिये भी बाध्य नहीं करते।"



“इसी तरह बैगा संस्कृति पर वृहद शोध करने वाले बेरियर एलविन लिखते हैं कि बैगाओं में यौन चेतना बहुत पहले विकसित हो जाती है, इसके लिये घोटुल जैसी कोई परम्परा नहीं है न ही अलग से कोई जानकारी इन्हें दी जाती है बल्कि सहज रूप से शिशु यह ज्ञान प्राप्त करता है यहां एक महत्वपूर्ण तथ्य की ओर बेरियर इंगित करते हैं- बैगा शिशु स्वच्छंद और अनियंत्रित रूप से विकसित होते हैं, उन्हें पर्याप्त भोजन नहीं मिलता और प्रायः वे भूखे होते हैं, खुजली और आंखों के विकार से ग्रस्त रहते हैं। परन्तु कुल मिलाकर उनका जीवन आनंदमय होता है क्योंकि वह स्वतंत्र होता है।”

बेरियर एलविन की अंतिम पंक्ति महत्वपूर्ण है "क्योंकि वह स्वतंत्र होता है" यानि समाज द्वारा बनायी गई दोहरी आचार संहितायें मूल्य-मानक उन पर लादे नहीं जाते। इन समुदायों में स्त्री-पुरुष के मध्य मित्रता की परंपरा है, हाथ मिलाना, गले मिलना, गले में हाथ डालकर बैठना आदि सहज तरीके हैं मित्रता निभाने के। सामंती समाज में तो यह घोर अपराध माना जाता था किन्तु अद्यतन परिवर्तनों के साथ नागर युवाओं में यह खुलापन बढ़ा है। बैगा समुदायों में स्त्रियों की स्थिति बहुत अच्छी है उन्हें अपने निर्णय लेने का, वर चुनने का अधिकार है, यहां स्त्रियां खाना परोसती नहीं बल्कि साथ बैठकर खाती हैं, महत्वपूर्ण बात यह है कि जिस दुनिया में पूरी बुराइयों, विसंगतियों के लिये औरतों को जिम्मेदार माना जाता है वहां बैगा जनजाति में यह वि'वास प्रचलित है कि "नाग बैगिन तो दुनिया को स्थिर करने के लिये कील ठोकती है, यानि औरत दुनिया को स्थिर करती है न कि विचलित। दरअसल ये आदिम संस्कृति हक, अधिकार के राजनीतिक सूत्रों से संचालित नहीं है बल्कि मानवीय आधारों पर सहज रूप से यहां जीवन चलते हैं। इस पृष्ठभूमि में लोक की स्त्रियां तथा यौन आचरण को ज्यादा बेहतर तरीके से समझ सकते हैं।

सामंतीय समाज स्त्रियों की 'यौन शुचिता' को सर्वोपरि स्थान पर रखता है ऊपरी तौर पर इसमें आदर्श स्थिति लगती है और इसमें आदर्श मूल्य ध्वनित होते हैं किन्तु यही मूल्य व धारणा स्त्रियों की समाज में स्थिति निर्धारित करने में केन्द्रीय भूमिका निभाते हैं। असुरक्षाओं से बचाने के आदर्शवादी मूल्यों के नाम पर स्त्री के लिये जो पृथक कायदे बनाये गये वे स्त्री विरोधी सिद्ध हुए इन कायदों के चलते स्त्रियां घरों में बंद हुईं, उन्होंने आत्म निर्णय के अधिकार खोये, पदों में कैद हुईं, सामंती भाषिक संरचना ने भार्या, प्रमदा, कामिनी, रमणी जैसे संबोधनों वाले भाव रूप गढ़े। सुविधा भोगी स्त्रियां इसकी प्रथम भोक्ता बनी यह वो समाज था जहां स्त्री की यौनिक शुचिता उसके पूरे भविष्य की निर्णायक थी। इस सामाजिक संरचना का मूलाधार परिवार है जो स्त्री यौनिकता की पवित्रता का, अखंडता का पहला सांस्कृतिक हवलदार है। स्त्री की यौनिक शुचिता परिवार की सामाजिक प्रतिष्ठा और श्रेष्ठता की पहली अनिवार्यता है जो सूक्ष्म सांस्कृतिक ट्रेसस के तहत स्त्री के समूचेपन को चाहता है और भाषिक स्तर पर उसी अखंडता के खिलाफ यौनिक जुगाली करता है। भाषा पूरे सांस्कृतिक मनोविज्ञान से गढ़ी गई एक वर्चस्ववादी समाज की तथाकथित पुरुषवादी मानसिकता का ही निर्वहन करती है यहां रूपांतरण की कोई मानव सापेक्ष प्रक्रिया न तो दिखाई देती है न ही ऐसे किसी स्पेस की संभावना यहां दिखाई देती है (तब स्त्री यौनिकता तथा भाषा संरचना पर विमर्श किये बिना पूरे सामाजिक-सांस्कृतिक तथा अर्थ-राजनीतिक संबंधों पर कैसे सोचा जा सकता है?) इसी के समानांतर लोक की श्रम'शील स्त्री के लिये इस तरह की किसी संहिता को मानना संभव ही नहीं था क्योंकि ये स्त्रियां गोल साड़ी पहने,



पिछौरा ओढ़े, प्रतिष्ठा या संस्कृति की संवाहक नहीं थी बल्कि सामुदायिक श्रमाधरित जीवन में देह, मन, प्राण से शामिल थीं। लोक की जुझारू तेवर वाली, कठोर परिश्रमी स्त्री का रचनात्मक कौशल यदि कृषि में प्रकट होता है तो गीत, संगीत, नृत्य की उर्वर सामूहिकता में भी उनका सक्रिय हस्तक्षेप है। इसीलिये यह समुदाय आदिम संस्कृति के अधिक निकट है।

दरअसल हम जिस लोक संस्कृति की चर्चा करते हैं उसका संरचनात्मक स्वरूप अधिकांशतः मध्यकाल में बना इसलिए इसकी बुनावट में मध्यकालीन सामंतीय मूल्यों का प्रभाव तथा हस्तक्षेप स्वाभाविक है कोई भी संस्कृति तात्कालिक प्रभावों से अनाहत नहीं रह सकती फलतः इसके स्वरूप गत अनेक संस्तरण बनते चलते हैं। लोक यौनिक उद्भावना तथा अभिव्यक्ति के लिये विशिष्ट अवसर तथा शब्द योजना को स्वीकृति देता है। लोक अभिव्यक्तियों में यौन भाव के चित्रण का कारण रंजन है, शिक्षा है, या हंसी ठिठोली मात्र है? यह पड़ताल का विषय है। बुंदेलखंडमें प्रचलित गारी गीत, बाबा-बाई के गीत तथा अन्य विवाह गीतों में कभी स्पष्ट रूप से कभी प्रतीकात्मक रूप से यौन चित्रण दिखाई देता है:-

ओला मासी कोयलिया हो सो तुम जैहो लंगर कौन दिसा।

हम जैहें नंदन वन हो सुआ, सारो बबसाये जहाँ।

उनकी लाली-लाली चोंचे लो पंखन पद्य लिखे।

दधि बेचन निकरी हो सजन, बहु ग्वालिनिया।

सिर सोने की मटुकिया, हो तो रूपे की दोहनिया

अंतर घर घेरी हो सजन, रये पचरसिया

तुमाओ का निकालौ हो काहे की नई भई बोहनियां

हमरो दइया ठिकानौ हो दूधई की नई-भई बोहनियां

धंस जाओ महल में हो करौ तोरी बोहनियां

तुमाओ का बिकानौ हो काहे की नई भई बोहनियां

हमरौ घुंघटा बिकानौ हो गालों की नई-भई बोहनियां

धंस जाओ महल में हों करौ तोरी बोहनियां।

तुमाओ का बिकानौ को काहे की नई, मई बोहनिया।

हमरी चोली बिकानी हो जुबनन की नई मई बोहनिया

धंस जाओ महल में हों करो तोरी बोहनिया

ओलामासी कोयलिया, बारात आगमन पर गाये जाने वाले इस गारी गीत में समधी-समधिन के मध्य संवाद को व्यक्त किया गया है। इन गीतों में दोनों पक्षों के स्त्री-पुरुष सम्मिलित रहते हैं। नंद-नंदोई, देवर-भौजी तथा पंडित-पंडिताईन पर भी चुटीले यौनिक व्यंग किये जाते हैं। बुन्देली देवी गीतों में भी यौन भाव का वर्णन मिलता है। इन देवीगीतों में आने वाले 'यौन वर्णन' को प्रजनन उर्वरा के सम्मान में तथा काम-विकार के शमन के अर्थ में लिया जाता है-



पनहरियां की गैल में जो पड़ो अडं+गी सांपरी

जे नैना तोरेबानरी, जे नैना तोर बानरी

काहें खों वो लोटे-पोटे, काहे को मन्नाये री

जे नैना तोरे.....।

घुंघटा को वो लोटे-पोटे नैनोंे को मन्नाये री

गलुओ को वो लोटे-पोटे, छतिया को मन्नाये री

कइया खों को वो लोटे-पोटे, जंधियों की मन्नाये री।

लोक संस्कृति में सर्प, बिच्छू, घोड़े यौन प्रतीक के रूप में प्रयुक्त किये जाते हैं, गीत में वर्णित सांप यौन भाव का ही प्रतीक है। यह अनुष्ठान गीत है जिसके केन्द्र में यौन भाव है। यह हमारी संस्कृति का खुलापन तथा वैज्ञानिक सोच है जहाँ यौन चेतना को प्रजनन एवं उर्वरा का आधार माना है जो इस सृष्टि का सृजनात्मक आधार है जो मानव विकास की अवधारणा को धारित किये है इसलिये लोक संस्कृति में यौन भाव या चेतना के प्रति नकारात्मक बोध नहीं है। बंुदेलखण्ड में विवाह के अवसर पर यौन भाव प्रधान गीत तो गाये ही जाते है। कुछ ऐसी परंपरायें भी प्रचलित है जैसे-विवाह के अवसर, पर वर और वधू के घर जाने वाले पकवान के पिटारों में आटे की बनी स्त्री-पुरुष की नग्न मूर्ति बनाकर रखना वास्तव में यह वंशवृद्धि का परस्पर सौहार्द पूर्ण आमंत्रण है।

इसी प्रकार बारात की बिदाई के प'चात घर की स्त्रियां दुल्हा-दुल्हन बन पूरी विवाह रीति को अभिनीत करती है जिसमें सुहागरात तक के भावों का खुले रूप में प्रदर्शन किया जाता है। बाई-बाबा के इस खेल में स्त्रियां भक्तिभाव, नैतिकता को बहुत पीछे छोड़ निद्रधन्द रूप से इस अवसर पर यौन इंगित, यौनिक व्यवहार तथा भाषा का प्रयोग करती हैं। ये वे स्त्रियां है जो अवगुठन में रहती हैं घूंघट उठाने की जो सोच भी नहीं सकती अपने शयनकक्ष में जाने के लिए भी अन्य सदस्यों के सोने की प्रतिकक्षा करती है तब इस तरहकी प्रथाएं वलोक का खुलापन है? दमित इच्छाओं की उन्मुक्त अभिव्यक्ति है या मनोरंजन मात्र, विचारणीय है? लोक संस्कृति में काम भाव पूज्य भी है और मनोरंजन का माध्यम भी है। इस तरह की प्रथायें रहस्यमयी गुप्त अनुभवों पर पड़ा गोपनीयता का पर्दा उठा उसके स्वस्थ स्वरूप एवं विकास का रास्ता भी खोलती है। स्थूल रूप से यह परंपराएं रीति-रिवाजों एवं गीत-कथाएं रंजन का ही माध्यम लगती है किन्तु इनके विशिष्ट अभिप्राय होते हैं जिन्हें विशिष्ट अवसरों पर ही प्रयुक्त किया जाता है अन्यथा जो अभिव्यक्तियों लोक संस्कृति के खुलेपन को व्यक्त करती हैं वे ही 'अश्लील' लगने लगती है यानि अभिव्यक्तियों का वैशिष्ट्य अवसर तथा भाव निर्धारित करते है यदि इन अभिव्यक्तियों को रोजाना प्रयोग किया जाने लगेगा तो ये अपना व्यंजनाथ खोकर अभिघात्मक रूप से अश्लील लगने लगेंगी।

गंगा जमुन की बाऊ रेता में मलिया ने बाग लगाये

रसवारी के भौरा रे.....।

बाग दुबीचे अम्बा को पेड़ो बई में गादर आम हो



रसवारी।

ऊपर से गिरे है दो अम्बा चोली में लग गये दाग
पांच रूपया तोंये देऊं देवरा नगरी में घुबिया बसाओ

रसवारी के.....।

पाँचई रूपया तौये देऊं धोबिया
चोली के दाग छुटाओ हो।

रसवारी के.....।

काना पीछू काना पछाहूँ काना सूखन डारौ हो। रसवारी को।
गंगा फीचो जमुना पछाडौं, पट्टी सूखन डारौ हो। रसवारी के.....।
उतै आये दो मुसाफिर जा चोली की बनक बनी है रसवारी के.....।
जा चोली की अजब बनक सो गोरी धन कौन सरूप रसवारी के.....।

(गारीगीत)

अभिव्यक्तियों तथा परंपराओं में व्यजित ये यौन अभिप्राय तथा आचरण सामान्यतः कौटुम्बिक रिश्तों के ईर्द-गिर्द ही समायोजित होते हैं इन्ही रिश्तों के माध्यम से तमाम भावों को अभिव्यक्त किया जाता है इन्हीं कौटुम्बिक रिश्तों के मध्य मनुष्य की चेतना बनती तथा विकसित होती है। गीत इस चेतना को अभिव्यक्ति देते हैं ये सभी रिश्ते चाहे पति-पत्नी का हो, माता-पिता और बच्चे का हो, भाई-बहन (माता पिता के यौनिक रिश्ते से) बहन-बहनोई, जीजा-साली, देवर-भाभीका इनके केन्द्र में यौनिकता है यानि यौनिकता प्रत्येक रिश्ते एवं भावबोध के केन्द्र में है। इन रिश्तों में अन्तनिहित आत्मीयता, निकटता एवं अपनापन का आधार भी यहीं भाव है जो इन रिश्तों को और प्रगाढ़ बनाता है। यहीं कारण है कि व्यापारिक, व्यावसायिक एवं अर्थाधारित रिश्तों में ये आत्मीयता, निकटता, जैसे नैसर्गिक भाव-बोध दिखाई नहीं देते ना ही यह संभव है। लोक संस्कृति में कुछ रिश्ते मजाक या कहें ठिठोली के हैं जैसे साले-बहनोई, जीजा-साली, देवर-भाभी इत्यादि इन रिश्तों में किया जाने वाला वाक् व्यवहार, भाषिक प्रयोग लोक संस्कृति की व्यंजनार्थों के प्रकट करता है जहां श्लील-अश्लील तथा अच्छे-बुरे का प्रश्न ही नहीं होता बल्कि रिश्तों की प्रगाढ़ता ही इसकी सीमा भी निर्धारित करती हैं।

जीजा-साली, देवर-भाभी, सरहज-ननदोई के रिश्तों में निहित फ्लर्ट (भावनाओं का नाटकीय प्रदर्शन) के केन्द्र में भी यौनिकता ही है किन्तु यह यौनिकता देह से परे है सिर्फ भावनाओं की शाब्दिक अभिव्यक्ति से मिलने वाले सुकून का भावबोध ही इसका लक्ष्य होता है ये व्यंजनार्थ रिश्तों को अधिक रंजक एवं सहज बनाते हैं जहां आनन्द होता। इन रिश्तों के मध्य होने वाले संवादों में निहित व्यंजनार्थों में दैहिकता केन्द्र में नहीं होती। ना ही ऐसी कोई कल्पना या कामना इस वाक् व्यवहार का अभिप्रेत होती है यह मनोवैज्ञानिक स्तर पर घटित होने वाले रंजक रिश्ते हैं जो आधुनिक अश्लीलता की अवधारणा से मुक्त हैं।



देवर-भाभी, ननदोई-सरहज आदि रिश्तों के मध्य होने वाले संवादों में अप्रत्यक्ष रूप से किये जा रहे यौन भावों के आदान-प्रदान के पीछे प्राचीनकाल में प्रचलित बहुपति-प्रथा तथा निकट के सम्बन्धों में विवाह की परंपरा हो सकती है घर की स्त्री पर परिवार के अन्य पुरुषों के अधिकार की ग्रन्थि परिष्कृत रूप से इन रिश्तों के पीछे आज भी क्रियाशील है। संभवतः इसलिये जेठ से पर्दा करने की प्रथा बनी जिससे स्त्रियां उस प्राचीन भाव बोध का शिकार न हों। पूर्वी उत्तर प्रदेश में मामी और भांजे के मध्य ठिठोली का रिश्ता आज भी प्रचलित है। यह जिन सांस्कृतिक ट्रेसस के तहत बना यह शोध का विषय है। कहने का आशय यह है कि लोकाचरण तथा लोक परंपराओं की जड़ें प्राचीनकाल में प्रचलित प्रथाओं में निहित हैं। यह पड़ताल का विषय है कि किन पर्यावरणिक, भौगोलिक तथा सामाजिक परिस्थितियों में इन प्रथाओं ने जन्म लिया।

आधुनिक भाव बोध यौनिकता को देह तक सीमित कर देता है जबकि प्राक्आधुनिक समाज में जन्मे ये रिश्ते गहरी पवित्रता के साथ ठिठोली का आनन्द देते हैं आधुनिक तार्किक भावबोध इसे खंडित कर देता है क्योंकि वह इन शब्दों और भावों में देह का आधार खोजता है जबकि इन रिश्तों में देह का कोई सीधा संबंध नहीं होता न चाहत होती है। रिश्तों का यह खुलापन समाज के खुलेपन को प्रकट करता है। यौनिकता पर आधारित इन कौटुम्बिक रिश्तों की सांस्कृतिक आंच बहुत गहरी होती है जो अर्थ-राजनैतिक आधार पर नहीं निर्मित हुई है। इसलिये इनमें भावों की प्रधानता होती है यहीं भाव बोध हमारी चेतना को गढ़ता और स्वरूप देता है, खंडित नहीं करता प्राक् आधुनिक समाज में यौनिकता अन्तभूत है। यह इंटीग्रेशन भावों से आता है और भाव रिश्तों के मध्य सृजित होते हैं। यहां हर एक का हर एक से चाची, भाभी, ताई का भावनात्मक रिश्ता है। आधुनिक अर्थ-राजनीतिक मूल्य निर्णयों के तहत जब हम इन रिश्तों को आंकना चाहते हैं तो कहीं न कहीं उस अखंड भावबोध को खंडित कर देते हैं अपचयित कर देते हैं।

प्राक् आधुनिक रिश्तों में इस आभ्यांतरिक सांस्कृतिक गहनता के मायने यह नहीं है कि ये रिश्ते बहुत स्वस्थ और सुन्दर हैं बल्कि इनकी सीमाओं को जानना आवश्यक है, पहली बात ये चूंकि सत्ता संबंधों से बने और उन्हीं सामंतीय सीमाओं को निभाने की बाध्यता इनके साथ जुड़ी है इसलिये वहां घोर उत्पीड़न, अपमान और घुटन है जो स्त्रियों को बहुत पीछे ढकेल देती है इसके बावजूद यह कहना गलत होगा कि वहां सामुदायिक भाव है। यहां रिश्तों में निहित द्वन्द्वात्मकता को समझना जरूरी है जो सिर्फ उत्पीड़न और शोषण के मध्य नहीं है बल्कि यह द्वन्द्वात्मकता भावों एवं सामंतीय मूल्यों के बीच की द्वन्द्वात्मकता है जिसके मध्य ही ये रिश्ते सृजित होते हैं। यहीं कारण है कि वहां उलाहनें हैं तो प्रगल्भतायें भी हैं, दबाव है तो ठिठोली भरी रंजकता भी है जो शुष्क अर्थ-राजनीतिक आधारों पर निर्मित रिश्तों में संभव ही नहीं है। दूसरी बात मध्य युगीन सामंतीय समाज में पितृसत्ता की गहरी और मजबूत पकड़ थी लेकिन जैसे-जैसे यह समाज संरचना बाहुबलाधारित होती गई, वैसे-वैसे स्त्री का दमन शमन शुरू हुआ। जिसने भावनात्मक रिश्तों को आघात पहुंचाया। बाहुबलाधारित इस संचरना ने अपहरण, बलपूर्वक विवाह द्वारा स्त्रियों के शमन-दमन को बढ़ा दिया, जिसने स्त्रियों को पीछे ढकेला और घरों की परिधियों में बंद भर नहीं किया उन्हें सदियों के लिये औपनिवेशिक मानस का प्रवक्ता बना दिया। इस दमन और शमन ने जहां एक और स्त्रियों को बंधनों में जकड़ा वहीं



पुरुषों को पूरी मुक्ति दी। कभी युद्ध, कभी पौरुष के प्रदर्शनार्थ पुरुष घर की दहलीजों को छोड़ बाहर की दुनिया में डूब गये और स्त्रियों के पास प्रतीक्षा के अलावा कोई विकल्प नहीं था इसी पृष्ठभूमि ने ईसूरी जैसे कवियों को तथा फागों को आधार दिया। चूंकि स्त्रियां भाव प्रधान रिश्तों के केन्द्र में थी व फलतः दमन की इन कार्यवाहियों के चलते स्त्रियों के हिस्से में अकेलापन आया। यही कारण है की इस दौरान लिखे गये गीत में चाहे वह प्रेम गीत हो या भक्ति गीत उनमें विरह, एकाकीपन, प्रिय को (परमात्मा) की पाने की तीव्र उत्कांठा अभिव्यक्त हुई है। स्त्रियों की यह वेदना लोक राग बन सामांतीय भावबोध पर छा गई।

अरे पियु-पियु सुनाय पपैरा
जिन अब जिया जराव
मोरे पिया परदिसवा छाये,
हुई जे सबद सुनावा पियु पियु।
जा कइयौ बेदरही पिया सौं
अब अपने घर जाव
घना बिसूरत रयें तुमाई
जाकैं जरन जुड़ावा पियु पियु।
जौ इतनी कई करौ हमाई
पूरे विरह के घाव
सुबरन चोंच मड़ाऊ पपैरा
हीरन जड़ौ जुड़ाव
पियु-पियु बोल सुनाय पपैरा
जिन अब जिवरा जरावा।

दमन और शमन की यह कार्यवाहियां सत्ता केन्द्रों तथा पुरुषों द्वारा की जा रही थीं। निर्णयों के केन्द्र में स्त्रियां कहीं नहीं थीं। स्त्रियाँ सत्ता केन्द्रों तथा वर्चस्ववादी वर्ग में शामिल नहीं होती यहीं कारण है कि भावबोध तथा संवेदनार्थ स्त्रियों के पक्ष में खड़ी होते हैं और एक हद तक वस्त्रियां अधिकांशतः झूठ, घूर्तता, हिंसा से मुक्त रहती है। सामंतीय मूल्य निर्णयों ने यौनिकता की बुरी चीज माना। जहाँ से यौनिकता छुपाने की और परहेज करने का विषय बन गयी। इन सत्ता केन्द्रों ने धर्म और नैतिकता के बहाने 'यौनिकता' को गृहस्थी में वर्जित और गोपनीय भाव के रूप में स्थापित किया। जिसने दमित, कुष्ठाग्रस्त आचरण को बढ़ावा दिया। यही कारण है कि स्त्रियाँ अपने औदात्यमय भावबोध के चलते 'सती' जैसे कष्टदायक अनुभव से गुजरने में भी नहीं हिचकतीं वहीं सत्ता केन्द्र उनके औदात्य को महिमामंडित कर ऊपरी तौर पर उन्हें स्तुत्य बना देते है और सूक्ष्म स्तर पर बहुत गहरे वह परिवेश निर्मित करते हैं जहां स्त्रियों के सामने इसके अलावा कोई विकल्प नहीं होते। इस पूरे परिदृश्य में इस बात से इंकार नहीं किया जा सकता कि इस



वर्चस्व और ताकत के बाद भी प्राक् आधुनिक समाज में सांस्कृतिक औदात्य भी है जिसे आधुनिक तर्कधारित सोच के तहत अपचयित नहीं किया जा सकता है। हमने आधुनिक बौद्धिक वर्चस्व (होजोमनी) के चलते भावों और रिश्तों को खोया है जबकि आवश्यकता अधिक गहरी गूढ़ सांस्कृतिक समझ एवं पड़ताल की थी। संभवतः इसीलिये 'लैंगिकता' की अवधारणा को आज आधुनिक बोध के बजाय उत्तर संरचनावादी तथा अन्य सांस्कृतिक विमर्शों के माध्यम से ज्यादा बेहतर समझ पा रहे हैं। बुंदेली फाग गीतों में यौनिक अभिप्रायों, यौन संकेतों तथा यौनिक भावों का वर्णन मिलता है जो उन्हीं सामंतीय रिश्तों के मध्य 'स्पेस' बनाता है यही उसकी सीमा है। चूंकि फाग का उत्स प्रेम और आल्हाद है अतः बसंत रितु इनके प्रकटीकरण में उद्दीपन का कार्य करती है। इन गीतों में उन्मुक्त राग सुनाई देता है:-

चुभन लागे बाजू बन्दा। भुजों में चुभन लागे।
कौन ढाड़ये जे बाजूबन्दा। कौन लगा दए कुन्दा।
राजा गढ़ा दये जे बाजूबन्दा, छैला लगा दये कुन्दा।
काहे सौं टूटे जे बाजूबन्दा, काहे से टूटे कुन्दा।
तानत टूटे जे बाजूबन्दा, मिलतई टूट गये दाई कुन्दा।

इसी तरह एक और गीत अवलोकनीय है
बलम की जो आक ली सुनी रे
मैं तो कुअना पे बेसर गई लेजेर (रस्सी)
मिलन को मैं ऐसी भागी रे.....

ऊपरी तौर पर इसूरी की फांगे दैहिक प्रेम में आंकठ डूबी लगती है किन्तु रजऊ एवं इसूरी का प्रेम देह, मन, प्राण, की मूर्तता से आगे अमूर्त प्रेमकी ओर बढ़ जाता है जो पारंपरिक सामाजिक ढांचे को तोड़ता है और प्रेम को मुक्ति से जोड़ता है। इसूरी उदात्त प्रेमी की तरह रजऊ से अपने प्रेम को व्यक्त करते हैं। हमारा समाज राजाओं, सामंतों के प्रेम को, श्रृंगारिकता को उनका जातीय चरित्र मानते हुए उसे स्वीकृति देता है किन्तु आम आदमी को यह आजादी नहीं देता उसके लिये अलग आचार संहिता है इसी तरह सामान्य स्त्री के प्रेम को चरित्रहीनता माना जाता है तथा ऐसी स्त्री को 'कुलटा' कहा जाता है। इसूरी और उनकी प्रेमिका रजऊ सामान्य पारंपरिक परिवार का प्रतिनिधित्व करते हैं दोनों सामंतीय समाज की संरचना को खंडित करते हैं तथा छद्म भद्रता को चुनौती देते हैं। 'रजऊ' उन आम स्त्रियों के मध्य का चरित्र है जो विवाह के पश्चात् उपजी भावनात्मक शून्यता को भरने के लिये वैवाहिक रिश्ते से परे भावनात्मक आलंबन पाने की आकांक्षा हमें आत्म मन में पाले रहती है यह हमारे सामंतीय मूल्य की बेहद संकीर्ण सीमायें हैं। जहाँ स्त्री और प्रेम सत्ताओं का शौक है तथा आम-आदमी के लिये वर्जना है। इसूरी राज्याश्रय से निकला कवि नहीं



था। उसने कुलीनता को चुनौती दी इसलिये वह लोकमन का कवि है। यहां ईसुरी द्वारा रचित फाग की कुछ पंक्तियां अवलोकनीय हैं-

नग-नग कैसे बनो बंदवारौ, रजऊ को डील दुआरौ।
अडियां जबर रसीली जांगै, कबजन कोऊ निहारौ।
ओले तिहरी परें पेट में, माफिक कौ बुंदवारौ।
गोरो बदन लाल धुतिया में, लगै लिपटतन प्यारौ।
ईसुर नचत गांय से आगई, गज झूमत मत वारौ।

इसी प्रकार यौन भाव से भरी एक अन्य फाग
जौ तन बाग बलम कौ नीकौ, सिंचो सुहाग अभी कौ।
श्री फल फरे धरे चोली में, मदरस चुअत लली कौ।
लेत पराग अधर पै मधुकर, बिकसी कमल कली कौ।
ईसुर काल रखाये रइयो, छुयै न छैल गली कौ।

इन चैकडिया फागों को सामायिक-सांस्कृतिक वि'लेषण से आगे मनोवैज्ञानिक दृष्टि से समझने की आवश्यकता है। इन गीतों में निहित व्यंजनाएं से ही उसका सारतत्व है। इन फागों को सामान्यतः राई नृत्य में 'बोलो' की तरह प्रयोग किया जाता है या होली के अवसर पर गाया जाता है। विशिष्ट बात यह होती है कि इनके निहितार्थों को इस तरह से प्रस्तुत किया जाता है कि कहीं भी अश्लीलता या दोहरी अर्थ व्यंजनार्थें ध्वनित नहीं होती बल्कि ये रंजन और आल्हाद को बढ़ा देते हैं।

हम पै नाहक रंग न डारौ, नैयां प्रीतम प्यारौ।
अतर, गुलाल, अंबीर मलौनांना पिचकारी मारौ।
उर में उठे मदन की जोंरें, नई जैरै पै जारौ।
अनुआ बिना मोय गंगाधर, ऊंसई लगत छिनारौ।

इस तरह की अभिव्यक्तियां बसंतोत्सव के खुलेपन का प्रमाण हैं। साथ ही इस तरह की फागों के माध्यम से स्त्रियों पर बिना बात लगाये जाने वाले चारित्रिक दोष वाली सामाजिक मानसिकता की ओर भी इंगित किया गया है।

एडगर एलन पो ने कविता के सौन्दर्य पर टिप्पणी करते हुए लिखा है कि सौन्दर्य की संगीतमय सृष्टि ही कविता है।

“इस विचार के परिप्रेक्ष्य में फाग की यह पंक्ति दृष्टव्य है।

मोती धन्य तोय मुख चूमत, रहत-कपोलन झूमत
दौ ठोकर ठोढ़ी के ऊपर, ठसक भरौ नित घूमंत।
बेसर-बीच बास तैं पायो, चलत हलत लै लूमत



खूबचंद तै है बड़भागी मुख पर करत हुकूमत

श्रृंगार रस के रति भाव का मोती के माध्यम से खूबचंद जी ने सहज भाव से मानवीकरण किया है। इसी तरह यौन अभिप्रायों को प्रकट करती यह फागः-

लै गओ मजा हमारे तन कौ, छैला बालापन कौ।

घूँघट खोल कपोलन ऊपर, दैगऔ दाग दसन कौ।

धर गऔ हाथ उरोजन ऊपर हर-गऔ मान जुबन कौ।

गओ गढ़ टूट दुकूल खोलतन, लओ रस लूट मदन कौ।

गंगाधर रैगओ बालम खां, खाली कोठा धन कौ।

छेड़खानी, लोक संस्कृति का अभिन्न हिस्सा रहा है जो स्वस्थ मानस से उपजा भाव है, चुहल, रंजन और रिशतों की प्रमाहताके मध्य निर्मित होती है जहाँ हासिल करना, कब्जा, जबरदस्ती प्रतिष्ठा का बदला लेना या दमन की न तो आंकाक्षा होती है न कल्पना (यदाकदा होनी भी हे विकृत मानसों में तो समाज से बहिष्कार का सामना करना पड़ता है) यह होती है चुहल जीवन के हर ऋण का हिस्सा नहीं होती बल्कि तीज-त्योहार, पर्व, शादी ब्याह के अवसरो पर कुछ खास रि'तो तक ही सीमित है जिसे सामाजिक स्वीकृति प्राप्त है परन्तु वहाँ भी बलात् या इच्छा विरुद्ध संभव नहीं है। इसीलिये लोक में रिशतों के प्रति एक खुलापन दिखाई देता है ईसूरी उसी खुलेपन के प्रतिनिधि कवि है। यह नि'छल भाव लोक गीतों में ही संभव है जहां कहीं कोई दुराव-छिपाव नहीं। लोकानुभूति में प्रणय, रति की अभिव्यक्ति हेतु किन्ही विशिष्ट रस, छंद अलंकारों या नायिका भेद इत्यादि उपादानों की आवश्यकता नहीं होती बल्कि रोजाना के अनुभवों को संवाद शैली में प्रकट कर दिया गया है। शास्त्रीय दृष्टि से प्रेम निवेदन या श्रृंगारिक के संदर्भ में श्री श्याम संुदर बादल लिखते हैं- "रति श्रृंगार का स्थायी भाव है। प्रत्येक नर-नारी के हृदय में ये यह भाव सदैव बीज रूप में विद्यमान रहता है, पर साधारण अवस्था में वह सुप्त रहता है और अनुकूल परिस्थिति उपलब्ध होते ही जाग्रत हो उठता है। स्त्री-पुरुष की एक दूसरे के प्रति आसक्ति को प्रेम कहते हैं यह पर दर्शन, गुण, श्रवण, चित्र-दर्शन अधिक संपर्क, समवृत्ति उपकार विशिष्ट ऋण आदि कारणांे से होता है। इस आधार पर भी यदि लोक अभिव्यक्तियों में निहित प्रेम व्यंजनाओं को देखा जाये तो वहां भी वहीं आकर्षण, साक्षात् मिलने की उत्कांठा आदि प्रेम निवेदन के उपादान है विशिष्ट बात यह कि यहां प्रेमी से दूर रहकर संयोग और विरह की तीव्रता के जीवंत चित्र खींचे गये है। इन फागों के केन्द्र में प्रकृति, प्रेम और यौनाकर्षण तो है ही गृहस्थी, के तमाम उतार-चढ़ावों को भी अभिव्यक्ति मिली है।

चूमा कबै मिलैं हैं मों को, मांगत काल परों को।

गादर गाल काटवे लायक, अबे हमारी गो की।

आसा देत मिलत है, नइयां, धरती टिया नरों को।

गंगाधर बड़भागी ले हे, लागत धाव मरों को।



“लोक कवि चुबन अंकित करना नहीं जानता है इस फाग की दूसरी पंक्ति में आया ‘गो’ शब्द व्यापक और बेजोड़ है जिसका अर्थ सुलभरूचि का या सुविधा का होना है, इसके जोड़ का बुंदेली में एक शब्द ही ‘वारा’ है जिसका प्रयोग ईसूरी ने इस प्रकार किया है-

बखरी रैयंत है भारे की.....।

ईसूरी चाय निकारौ जिदना हमें कौन वारे की’।

इन फागों में भावों की जिस तरह से अभिव्यक्ति हुई उन्हें पढ़ते हुए लगता है जैसे कवि साक्षात् अपनी प्रेयसी से संवाद कर रहा है। स्त्रियाँ इन फागों के केन्द्र में हैं। जो प्रेम और रति भाव में उद्दीपन का कार्य करती हैं संभवतः यह स्पृहणीयता और जीवंतता ही भावों का मानवीकरण करती हैं। कुछ ऐसे ही भावों को व्यक्त करती ईसूरी की यह पंक्तियाँ दृष्टव्य हैं:-

चूमा मांग लेन गेलारी, मौँ हम खांना टारौ।

हम पै चुमवा लैजा मुइयां। फिर पछतैही गुइयां।

इन पंक्तियों में घृष्ट ग्रामीण युवाओं की आकांक्षायें व्यक्त की गई हैं। जो वे गाहे-बगाहे त्यौहारों के अवसर पर गीतों में इतारों की तरह अभिव्यक्त करते हैं।

बहरहाल यह कहा जा सकता है कि इन गीतों में यौन अभिप्राय तथा यौनिक भावों की अभिव्यंजनाओं को पढ़ते हुए यह नहीं लगता कि हम किसी विशिष्ट काव्य सौष्ठव के अन्तर्गत परिगणित विशिष्ट अभिव्यक्तियों को पढ़ रहे हैं बल्कि परिवार, मोहल्लों में होने वाली चुहल, ठिठोली एवं चुटीली छेड़खानी की अनुभूति होती है। रस सिक्त, जीवन के आनन्द से जुड़ी इन भावानुभूतियों को पढ़ते हुए सैद्धांतिकियां मत, विमरा बहुत पीछे छूट जाते हैं। एक सहज प्रवाह जिन अनुभवों से हम प्रतिदिन गुजरते हैं उन्हें थोड़ी ठिठोली, शरारत तथा लरिकाई के साथ पढ़ना एक नये अनुभव संसार में ले जाता है। लोक अपनी आचार संहिताओं के साथ रस, रांग, आनंद की छूट भी देता है।

आज संचार माध्यमों इस भावबोध को न समझते हुये उसके विकृत रूप को परोस रहे हैं जिनसे लोक संस्कृति मजाक का विषय बन गई है तथा उसके मूल रूप को भयंकर आघात पहुंच रहा है।

संदर्भ ग्रंथ सूची

1. लोक संस्कृति की रूपरेखा – डॉ. कृष्णदेव उपाध्याय- लोक भारती प्रकाशन, संस्करण 1988।
2. लोक संस्कृति - बसन्त निरगुणे – मध्यप्रदेश हिन्दी ग्रन्थ अकादमी, संस्करण 2005।
3. भारतीय लोकगीत - सांस्कृतिक अस्मिता – डॉ. सुरेश गौतम - भाग 1,2,3।
4. लोक - संपादक पीयूष दाइया - राजस्थान लोक कला मंडल, कवि प्रकाशन - प्रथम संस्करण 2002।
5. लोक साहित्य और संस्कृति - डॉ. दिनेश्वर प्रसाद - जय भारती प्रकाशन, द्वितीय संस्करण 1989।



6. मध्यदेशीय लोक संस्कृति - नर्मदा प्रसाद गुप्त – बुंदेलखण्ड साहित्य अकादमी, छत्तरपुर - 1986।
7. बुंदेली संस्कृति और साहित्य - गुप्त - म.प्र. आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल, 2001।
8. जनपदीय संस्कार गीत - गुप्त - म.प्र. आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल, 2006।
9. बुंदेली लोक साहित्य परंपरा और इतिहास - गुप्त - म.प्र. आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल, 2005।
10. बुंदेली लोक साहित्य परंपरा और इतिहास - गुप्त - म.प्र. आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल, 2001।
11. लोक में कबीर - गुप्त - म.प्र. आदिवासी लोक कला परिषद, भोपाल, 2007।
12. ईसूरी का फाग साहित्य - डा. लोकन्दु सिंह नागर - 2004।
13. बाजत आवे ढोल - देवेन्द्र सत्यार्थी – एशिया प्रकाशन नई दिल्ली संस्करण 1952।
14. कविता कौमुदी - भाग पांच – रामनरेश त्रिपाठी।